विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् के सहयोग से हिन्दी विभाग, विवेकानन्द महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) में 26 और 27 मार्च 2015 को आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत

बदलते समय में साहित्य शिक्षण की प्रविधियाँ और चुनौतियाँ

गद्य विधाओं की शिक्षण प्रविधियाँ और चुनौतियाँ

1.समय और उसका बदलता मिजाज

इस विषय पर बात करना शुरू करें तो सब से पहली चुनौती समय को ही समझने की है। समय क्या है? समय और देश[1] का रिश्ता बहुत गहरा होता है। देश से बाहर कोई वस्तु नहीं हो सकती है और समय के बाहर कोई सक्रियता नहीं हो सकती। मोटे तौर पर माना जाता है कि जिस क्रम में वस्तु का संस्थापन होता है वह देश है और जिस क्रम में क्रिया या घटना संभव होती है वह समय है। समय को समझने के लिए घटना और सक्रियता को समझना जरूरी हो जाता है। अब गौर से देखा जाये तो सक्रियता का संबंध सिर्फ मानवीय क्रियाकलापों से सीमित नहीं है। प्रकृति अपने ढंग से सतत सक्रिय रहती है। अन्य प्राणी भी अपने ढंग से सक्रिय रहते हैं। मनुष्य भी अपने ढंग से सक्रिय रहता है। यहाँ यह ध्यान देने की जरूरत है कि चाहे जैसी भी सक्रियता हो वह प्रकृति के नियमों की अधीनस्थ ही होती है, अर्थात जिस सक्रियता की अनुमति अंततः प्रकृति नहीं देती वह संभव नहीं होती है। तो समय का मुख्य नियंत्रक प्रकृति है। तो समझ के स्तर पर, भूगोल के लिए जो समय है क्या वही विज्ञान के लिए भी है? जो समय इतिहास के लिए है क्या वही समय भविष्य के लिए भी है? जो समय भारत के लिए है क्या वही समय यूरोप के लिए भी है? अंततः यह कि जो समय इन सब के लिए क्या वही समय मनुष्य के लिए भी है? संक्षेप में ही सही, यहाँ मनुष्य के समय, अर्थात मनुष्य की क्रियाशीलता पर बात करना, अधिक प्रासंगिक और जरूरी है। बहुत ही मोटे तौर पर देखें तो मनुष्य की क्रियाशीलता से मुख्यतः दो संकाय बनते हैं। एक सभ्यता और एक संस्कृति। अकसर हम व्यावहारिक स्तर पर सभ्यता और संस्कृति में अंतर नहीं करते, जब कि अंतर है और यह अंतर बहुत बड़ा है। प्रेमचंद ने 1936 में महाजनी सभ्यता लिखी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जन्म दिन के अंतिम संदेश में 1941

---

[1] Time & Space

में सभ्यता के संकट[2] पर बात की, इधर सभ्यता के संघात[3] पर भी काफी बहस हुई है। यह सब मैं सिर्फ याद कर ले रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि आजकल सभ्यता शब्द उतनी सुनाई नहीं देता, लेकिन संस्कृति की चर्चा बहुत होती है। ऐसा क्यों? सभ्यता भौतिक विकास के साथ आगे बढ़ती रहती है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी सभ्यता के आगे बढ़ने और कवि कर्म के कठिन होते जाने की बात कही है, उस पर यथा-स्थान थोड़ा खोलकर बात की जा सकती है।

मनुष्य अपनी भौतिक क्रियाशीलता से सभ्यता और आधि-भौतिक क्रियाशीलता से संस्कृति का संघटन करता चलता है। अब, देखा जाये तो मनुष्य की क्रियाशीलता से दो समय बनता है एक सभ्यता का समय और दूसरा संस्कृति का समय। ज्ञान साहित्य सभ्यता समय में सक्रिय रहता है, जब कि रस साहित्य संस्कृति के समय में सक्रिय रहता है। यहाँ मुख्य विवेच्य रस साहित्य की गद्य विधाएँ हैं, इसलिए साहित्य से रस साहित्य का ही अर्थ लेना चाहिए जब तक कि अन्यथा न कहा गया हो। तो यह कि साहित्य का समय संस्कृति समय है। सभ्यता के समय में मनुष्य की क्रियाशीलता अतार्किकता या बुद्धि की मुक्तावस्था में संभव नहीं होता है। संस्कृति समय में मनुष्य की क्रियाशीलता का अधिकांश अतार्किकता या बुद्धि की मुक्तावस्था में ही संभव होता है। बहुत ही सावधानी के साथ अधिकांश इसलिए कह रहा हूँ कि संस्कृति समय में संपन्न होते चलनेवाले साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा या तो सीधे कविता है या कविता के उपकरणों से समर्थित है। अब जब हम समय के बदलाव की बात कर रहे हैं तो इस संस्कृति समय में बदलाव की बात कर रहे हैं। एक दृश्य विवरण से अपनी बात सामने रखने में सुविधा होगी। एक ही जगह दो भिन्न संस्कृतियों से जुड़े जोड़े की शादी हो रही है। दोनों के पोशाक की बनावट अलग, सामुदायिक रीति-रिवाज अलग, उनकी पारस्परिक भिन्नता सहज ही लक्षित हो सकती है, हो जाती है। यह भिन्नता लक्षित करनेवाला हमारा खुद का नजरिया सामुदायिक या सांस्कृतिक तत्त्व से निर्मित है। दोनों ही जोड़े के लोगों के पास लगभग एक ही तरह या संवर्ग का मोबाइल सेट, कनेक्शन, गाड़ियाँ, एक ही तरह की बिजली व्यवस्था है। इस आधार पर भिन्नता में अभिन्नता को लक्षित कर पाने में यदि हम सहज कामयाब रहते हैं तो समझना चाहिए नजरिया के संघटन में सभ्यता के सूत्र सक्रिय हैं। हमारे समय के बदलते मिजाज का बड़ा संकट यह है कि नजरिया के संघटन में सामुदायिक या सांस्कृतिक तत्त्व अधिक तेजी से सक्रिय होते जा रहे हैं और सभ्यता के सूत्र तेजी से निष्क्रिय नहीं भी अगर तो शिथिल होते जा रहे हैं। आगे की ओर बढ़ने के लिए संस्कृति को सभ्यता के अनुसरण में अपनी आंतरिक गतिमयता को बरकरार रखना पड़ता है। पीछे की ओर लौटने या जड़ता की स्थिति सभ्यता को संस्कृति के अनुशरण में बने रहने का दबाव बनाती है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि अनुसरण और अनुशरण पर ध्यान देने से पता चलता है कि इन में जो भिन्न ध्वनि है, उनमें सिर्फ दंत्य और तालव्य का अंतर है। विस्तार भय से ऐसा होने के कारकों और कारणों पर विचार करना यहाँ संभव नहीं है। कुल मिलाकर यह कि बदलते समय का मिजाज यह है कि सभ्यता-समय बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है और संस्कृति-समय या तो पीछे की ओर लौटने की कोशिश कर रहा है और अपने अधिकांश में जड़ता की गिरफ्त में है। यह बात दिल्ली में कर रहा हूँ और ग़ालिब न याद आयें, अभी ऐसे तो हालात नहीं! ग़ालिब के शब्दों में कहूँ तो रस साहित्य से जुड़े लोगों की स्थिति यह है कि 'ईमाँ मुझे रोके है, तो खैंचे है मुझे कुफ़्र / का'ब:

---

[2] आखिरी संदेश

[3] The Clash of Civilizations: And the Remaking of World Order Samuel P. Huntington

मिरे पीछे है, कलीसा मिरे आगे'[4]। संस्कृति-समय के इस 'रोक' और सभ्यता-समय के इस 'खैंच' को समझें तो समय का बदलता मिजाज कुछ समझ में आ सकता है।

2. रस साहित्य की गद्य विधाएँ

रस साहित्य की गद्य विधाएँ ही यहाँ मुख्य रूप से विवेच्य हैं। कहानी, लंबी कहानी, उपन्यास, उपन्यासिका, नाटक, आलोचना, समीक्षा, जीवनी, आत्मकथा, पत्रकारिता, यात्रावृत्त, एकांकी, निबंध, जीवन अनुभव, डायरी आदि साहित्य की गद्य विधाएँ रही हैं, हैं। ध्यान में होगा, भरत मुनि के काव्य शास्त्र का नाम है, 'नाट्यशास्त्र'। ऐसा क्यों? असल में उस समय रस साहित्य नाट्य ही रहा होगा। वाणभट्ट की 'कादंबरी' गद्य रूप में होकर भी महाकाव्य के रूप में प्रशंसित है। प्रेमचंद के 'गोदान' की सर्वोच्च प्रशंसा 'किसान जीवन के महाकाव्य' के रूप में मुखरित होती है। पहले की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों में कहानी, काव्य, गीत, नाटक, आलोचनात्मक विचार अर्थात आज के साहित्य की सभी विधाओं, के सार संघनित होकर पाठक को एक साथ प्रभावी ढंग से उपलब्ध होते हैं। कबीर अपने गीत को ब्रह्म विचार कहते हैं। तुलसी दास का राम चरित मानस कथा भी है, काव्य भी है, नाट्य लीला भी है। असल में संस्कृति मेगा या ग्रेटर टेक्स्ट की बनावट और बुनावट बहुआयामी और बहुविधायी हुआ करती है। आधुनिकता के प्रवाह में ऐसे तत्त्व सक्रिय रहे हैं जो अपनी बाइनेरी प्रभाव में विशिष्टीकरण (पर्टीकुलराइजेशन) की बुनियादी प्रवृत्ति के कारण बहुआयामी और बहुविधायी से विमुख होने की तरफ बढ़ती गई। उत्तर-आधुनिकता की बुनियादी प्रवृत्ति के कारण इस विशिष्टीकरण जनित विमुखता की प्रवृत्ति पर रोक लगने लगी और भानुमती का पिटारा (soap opera) होने की तरफ बढ़ने लगी। इस पर अलग से बात की जा सकती है।

आज विधाओं के अतिक्रमण से नई-नई विधाओं के ढाँचों के जन्म की अनंत संभावनाएँ बन रही है। विधाओं की परंपरागत सीमाएँ टूट रही हैं। इधर विधाओं के संदर्भ में यह सामान्य साहित्यिक प्रवृत्ति चलन में आ रही है। इसके अपने कारण हैं। विधाओं के परंपरागत ढाँचों में स्पेस कम हो गया है। रवींद्रनाथ ठाकुर की एक किताब है, 'लिपिका'। लिपिका को उनके गद्य काव्य का उदाहरण बताया जाता है। कहने की जरूरत नहीं है कि रवींद्रनाथ समर्थ कवि होने के साथ ही समर्थ गद्यकार भी थे। दोनों ही विधा में समर्थ होने के बावजूद उनके कथ्य की संवेदना का वह कौन-सा दु:साध्य पक्ष है जो दोनों ही विधाओं की अकेली-अकेली शक्ति और संभावनाओं को ना-काफी ठहरा देता है। इस दु:साध्य पक्ष पर बार-बार विचार करने से सर्जनशीलता से संबंधित बहुत सारे सवालों के कुछ जवाब तो मिल ही सकते हैं। उदाहरण जुटाना हो तो, जैसा कि ऊपर संकेत है भी, विधाओं के सामान्य अनुशासन के कठोरता से पालन के साहित्यिक युग से भी काफी कुछ मिल सकता है, लेकिन वह सब अंततः ठहरेगा अपवाद ही। लेकिन, अभी विधाओं की सीमाओं का अतिक्रमण एक मुखर होती जा रही साहित्यिक प्रवृत्ति का सूचक है। काशीनाथ सिंह समर्थ साहित्यकार हैं। साहित्य के अध्यापक, विद्यार्थी और सर्जक होने के कारण साहित्य की विभिन्न विधाओं के शील और कौशल से न सिर्फ उनका रूपगत परिचय है बल्कि वे उन विधाओं की आभ्यांतरिक अभियांत्रिकी से भी भलीभाँति परिचित हैं। फिर हिंदी मन के फटे हुए अहं के समकालीन यथार्थ की संवेदना का वह कौन-सा

[4] दीवान-ए-ग़ालिबः राजकमल पेपर बैक्सः सातवीं आवृत्ति 2004: अली सरदार जाफ़री

दु:साध्य पक्ष है जो संस्मरण, कथा, उपन्यास, रिपोर्ताज, व्यंग्य आदि के सार को एक नई विधा में संघनित करने पर ही किसी भाषिक आयोजन का हिस्सा बन पाता है। राजेश जोशी अपनी किताब 'क़िस्सा कोताह' में इस बात को कुछ इस तरह कहते हैं कि 'अव्वल तो यह समझाना मुमकिन नहीं है कि सौ सवा-सौ पृष्ठों में फैली यह चीज़ क्या है, हाँ एक हद तक यह बताना आसान है कि यह क्या नहीं है। मसलन यह उपन्यास नहीं है। आत्मकथा नहीं है। शहरगाथा नहीं है और कोरी गप्प भी नहीं है। लेकिन यह इन्हीं तमाम चीज़ों की गपड़तान से बनी एक किताब है। गप्प और गल्प के बीच चली आती रिश्तेदारी का जो बारीक-सा तागा है वो अगर टूट गया तो गप्प का भी बेड़ा गर्क़ और गल्प का भी। एक अजीब-सी लत हम सब में याने हर पाठक में चली आती है कि किसी भी चीज़ को पढ़ने से पहले वह जान लेना चाहता है कि वह जिस किताब को पढ़ रहा है, वह क्या है। याने पहले उसकी विधा तय होना चाहिए। अरे भाई विधा तय हो जाने से क्या हो जाएगा। अब कौन-सी विधा साबुत बची है। कहानी, कहानी की तरह नहीं रही। उपन्यास, उपन्यास की तरह नहीं रहा... और कविता तो ख़ैर...।'[5] और भी कई दृष्टांत खोजे जा सकते हैं लेकिन, मुख्यतः कहना यह है कि कैसा कठिन समय है, इसका संकेत इस बात से मिलता है कि कोई भी चीज 'क्या है' यह बताना मुश्किल है, 'क्या नहीं है' यह बताना आसान है।

किसी भी चीज की पहचान के दो आधार होते हैं -- समानता और असमानता। समानता और असमानता का संदर्भ किसी पूर्वमान्य मानक और तुल्यों की पारस्परिकता से होता है। एक व्यक्ति कहीं भी चला जाये तो वह अपनी दृश्य समानता के आधार पर मनुष्य के रूप में पहचान लिया जायेगा, लेकिन यह भी तो सच है कि एक व्यक्ति के रूप में वह जिंदगी भर अपने को नहीं पहचाने जाने की शिकायत से जूझता रहता है। जब व्यक्तित्व का ही कोई मानक नहीं हो सकता तो उसके साहित्य के ही किसी मानक आधार पर कैसे तय किया जा सकता है! प्रसंगवश, पहले पहचान का अधिक कारगर आधार सामुदायिकता थी, फिर सामूहिकता बनी और अब वैयक्तिकता बन रही है। हाँ, यह कहते मैं पहचान के झुंडीकृत आधार के खतरे के प्रति सावधान हूँ। संक्षेप में यह कि जब हम गद्य विधा की बात करते हैं तो उसके निहितार्थ के इस पक्ष को ध्यान में रखना ही चाहिए।

जो साहित्यिक रचनाएँ अपनी विधाओं के शील और स्वभाव की आंतरिक विशिष्टताओं के जड़ भाग की पहचान करते हुए उसे सामाजिक विकास के नये परिप्रेक्ष्य से प्राप्त जीवंत अनुभवों के सर्जनात्मक साहचर्य और समावेश से विस्थापित करने में कामयाब होती हैं उन साहित्यिक रचनाओं के मर्म से पाठकों के मर्म के जुड़ाव को समझने के लिए आलोचना को भी मानसिक रूप से तैयारी करने की जरूरत होती है। यह मानसिक तैयारी आलोचना की उदारता की ही माँग नहीं करती है बल्कि उसमें सार्थक बने रहने की अनिवार्य आकांक्षा की भी माँग करती है। यह कैसे हो सकता है कि रचना तो आगे बढ़ती रहे, नयी चुनौतियों का सामना करती रहे और आलोचना रचना के साथ अपनी सहयात्रा को जारी रखने की बुनियादी शर्तों की अवहेलना करते हुए मानिनी की तरह ठिठकी हुई मन:स्थिति में पड़कर अपनी पुरानी जगह पर ही ठमकी

---

5 क़िस्सा कोताहः राजेश जोशीः राजकमल प्रकाशन 2012

रहे, अपने विकास और परिवर्तन की चुनौतियों से मुँह चुराती रहे! ठसक के साथ ठुमक-ठुमक कर नई राह पर चलती हुई रचना को ठिठकी और ठुमकी हुई आलोचना कैसे समझ सकती है! नायिका तो रचना ही होती है। व्यावहारिक आलोचना चाहे वह जितनी भी सुंदर, चतुर और समझदार क्यों न हो वह अंततः और अनिवार्यतः उसकी दूती ही होती है। स्वाभाविक ही है कि ठमकने-ठुमकने, ठिठकने और रूठने का अधिकार सिर्फ नायिका को ही प्राप्त होता है, दूती को नहीं। दूती को तो नायिका के मिजाज के साथ ही चलना होता है। कभी-कभी दूतियाँ इतनी चतुर सुजान होती हैं कि संवाद कायम करने की जगह संबंध कायम करने में ही अधिक दिलचस्पी लेने लगती हैं।

3. गद्य विधाओं की शिक्षण प्रविधियाँ और चुनौतियाँ

समय और उस के बदलते मिजाज तथा रस साहित्य की विधाओं पर बात करने के बाद इनके शिक्षण की प्रविधियों और उससे जुड़ी चुनौतियों पर चर्चा आवश्यक है। साहित्य क्यों जैसे बुनियादी सवाल पर आने के पहले पाठ प्रविधि का उल्लेख करना आवश्यक है। हिंदी रस साहित्य के सामान्य पाठक का दायरा छोटा होता गया है, यह चिंता की बात है। जिस साहित्य को पाठकों का 'अपनत्व' प्राप्त है वह साहित्य क्या पाठकों के निजीपने से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ होता है? हाँ जुड़ी हुई नहीं भी हो सकती है, लेकिन ऐसा साहित्य जुड़े होने या जुड़ने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर नहीं, बल्कि पाठक की किन्हीं और माँगों को ध्यान में रखकर और उन्हीं माँगों को संतुष्ट करने के लिए तैयार किया जाता है। पाठक अपनी उन माँगों को वहाँ संतुष्ट होता हुआ पाता है। सिर्फ पढ़े जाने पर ध्यान न दिया जाये। सिर्फ 'जाने' पर जोर दे कर सुविधाजनक निष्कर्ष न निकाले जायें। क्लब जाने और काम पर जाने के अंतर को ध्यान में जरूर रखा जाये। पाठक सामान्यत: गंभीर रचना के करीब विशिष्ट मन:स्थिति में अपने मन का पता पाने, अपना मन खोलने के लिए आता है, रचनाकार के मन का पता लगाने के लिए नहीं। जैसे कोई किसी कन्या से प्यार करता है तो अपनी किसी निजी प्रेरणा के आधार पर न कि कन्या के परिवार या पिता की जरूरत के आधार पर। ऊपर से यश:कांक्षी चतुर-सुजान रचियता के द्वारा किये गये रचना-छद्म से स्थिति और अबांछित हो जाती है। इस स्थिति में तो रचना के माध्यम से रचनाकार के मन का भी ठीक-ठीक पता पाठकों को नहीं लग पाता है। पाठक इस स्थिति में करे तो करे क्या? वैसे भी पाठक को दूसरी ओर खींचकर ले जानेवाली शक्तियों की आज क्या कमी है! हिंदी में, पाठक की जरूरतों को विभिन्न दृष्टियों और उद्देश्यों की सापेक्षता में विभिन्न प्रकार से क्रमबद्ध करने, अपने अध्ययन का विषय बनाने में जितना प्रयास किया जाना अनिवार्य था उसकी तुलना में आलोचना और रचना के संयुक्त प्रयासों को नगण्य ही माना जायेगा। बल्कि यहाँ प्रसंगतः यह उल्लेख करना जरूरी है कि रचना और आलोचना का संबंध अभिमुखी से अधिक, प्रतिमुखी भाव-मुद्रा में ही विकसित हुआ है।

एक सामान्य पाठक के रूप में साहित्य पढ़ना और एक विषय के रूप में शिक्षण संस्थान में दाखिल होकर साहित्य सीखना या कह लें साहित्य को पढ़ना सीखना भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। आस्वाद और शिक्षण के अंतर से साहित्य के आनंद पाठ और ज्ञान पाठ के अंतर को समझा जा सकता है। बाग में सामान्य नागरिक की तरह टहलना और आनंद लेना, अपने फेफड़े को स्वच्छ हवा से भर लेना, फूलों के रंग, रूप और गंध का

आनंद लेकर निकल जाना अलग बात है और उस बाग को आनंद प्रदान करने लायक बनाये जाने के लिए काम करते हुए आनंद लेना भिन्न स्थिति है। कहा जाता है, प्रेमचंद साहित्य तो बहुत ही सहज है। पाठक को बड़ी आसानी से समझ में आता है। अगर यह सच है तो फिर प्रेमचंद साहित्य को विद्यालय/ विश्वविद्यालय में पढ़ाये जाने की क्या जरूरत है! जरूरत है, और बहुत अधिक जरूरत है। प्रेमचंद साहित्य को विद्यालय/ विश्वविद्यालय में पढ़ाये जाने की जरूरत को प्रेमचंद साहित्य के आनंद पाठ और ज्ञान पाठ के फर्क से समझा जा सकता है।

पहले साहित्य शिक्षण की चुनौतियों पर चर्चा करना पहले अधिक जरूरी है, फिर इन चुनौतियों का सामना करने के लिए अपनाई जानेवाली प्रविधियों पर सही तरीके से बात शुरू की जा सकती है। पहले पता तो हो कि चुनौतियाँ क्या हैं, तब न समाधान की दिशा खोजने और उधर बढ़ने की कोशिश की जाये। सच तो यह है कि हम में से अधिकतर को चुनौतियों का ही ज्ञान नहीं है!

साहित्य शिक्षण के सामने बड़ी चुनौती है रस को ज्ञान में बदलने की, अर्थात रस साहित्य को ज्ञान साहित्य में बदलने की। साहित्य में वास्तविकता गल्प में बदल जाती है, साहित्य शिक्षण के सामने चुनौती होती है उस गल्प को फिर से वास्तविकता में बदलने की। रचना प्रक्रिया और पाठ प्रक्रिया के बीच 'कोडिंग' और 'कोडिंग' रचना-संघर्ष और रचना-आस्वाद और शिक्षण की सामाजिक और बौद्धिक प्रक्रिया है। भीष्म साहनी एक महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। वे कहते हैं, 'अपने किसी अनुभव को लेकर अथवा किसी घटना से प्रेरणा लेकर जब लेखक कहानी लिखने बैठता है तो वह एक तरह से वास्तविकता को गल्प में बदलने के लिए बैठता है, यथार्थ को कला रूप देने के लिए। लेखक यथार्थ का दामन नहीं छोड़ता, और साथ ही साथ उसका कायापलट भी करने लगता है, ताकि वह मात्र घटना का ब्योरा न रहकर, कहानी बन जाए, कला की श्रेणी में आ जाए। इसी प्रक्रिया में से गुजरते हुए कभी-कभी ऐसे बिंदु पर पहुँचता है, जहाँ कलम रुक जाती है, लेखक नहीं जानता कि वह किस ओर को बढ़े, घटना अथवा अनुभव से जितना निबटना था निबट लिया। अब आगे क्या हो, कहानी में उठान कैसे आए, वह कहानी कैसे बने, यह बिंदु लेखक की सबसे कठिन घड़ी होती और सबसे बड़ी चुनौती होती है।'[6] साहित्य शिक्षण 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया अपनाता है। इस तरह साहित्य शिक्षण के सामने 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया को जीवन के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य, अर्थात बदलते समय के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य से जोड़ने की चुनौती होती है।

मुक्तिबोध राजनीतिक प्रेरणा और कलात्मक प्रेरणा के अंतस्संबंध पर विचार करते हैं, वे बताते हैं, 'यह कहना बिल्कुल गलत है कि कलाकार के लिए राजनीतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है? बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो छद्मजाल न हो।'[7] इसे इस तरह समझा जा सकता है यहाँ कि साहित्य के सामने चुनौती होती है बदलते समय की राजनीतिक समेत बहुविध प्रेरणा को कलात्मक प्रेरणा में बदलना। कलात्मक प्रेरणा क्या है! बुद्धिगत कथ्य को हृदयगत

---

6 भीष्म साहनी : दो शब्द : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एंड सन्ज़ : 1983

7 मुक्तिबोध रचनावली भाग - 5:`कलात्मक अनुभव' संभावित रचनाकाल 1959-64

भाव में बदलकर संवेदना का हिस्सा बनाने की प्रेरणा, कलात्मक प्रेरणा है; ज्ञान को रस में बदलने की प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा है। प्रसंग और प्रेरणा के आंतरिक संबंध को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है कि साहित्य शिक्षण के सामने चुनौती होती है किसी कलात्मक प्रेरणा को बदलते समय की राजनीतिक समेत बहुविध प्रसंग में खोलना या डिकोड करना। मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की प्रक्रिया पर ध्यान दिलाते हैं। साहित्य में रूपवाद के खतरे को अभी एक किनारे रहने दें, वह दूसरी चीज है। यहाँ यह समझा जा सकता है कि बदलते समय का ज्ञान, रस साहित्य में बहुआयामी संवेदना का रूप ग्रहण कर रहा होता है, तो साहित्य शिक्षण की चुनौती होती है इस बहुआयामी संवेदना के कला रूप को बदलते समय के ज्ञान तत्त्व में बदलने की। कला रूप और ज्ञान तत्त्व पर से ध्यान हटते ही गड़बड़ी हो सकती है, इसलिए यहाँ एक सावधानी की जरूरत है। कबीर सावधान करते हैं, 'संतौ भाई आई ग्याँन की आँधी रे। भ्रम की टाटी सबै उंणीं; माया रहे न बाँधी।।'[8] सावधानी यह कि ज्ञान में भी अंधत्व का तत्त्व होता है इसलिए बदलते समय के ज्ञान में सन्निहित अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलना बदलते समय में साहित्य शिक्षण की चुनौती है।

साहित्य शिक्षण की कई चुनौतियाँ हैं, कुछ की चर्चा यहाँ की गई है। मूल रूप से साहित्य संस्कृति कर्म है. लेकिन संस्कृति के बारे में जिस तरह से ऊपर उल्लेख किया गया है, उस तरह से संस्कृति कर्म के रूप में साहित्य सृजन और शिक्षण का काम बहुत उत्साहजनक नहीं भी लग सकता है। बात ऐसी नहीं है, ऊपर सिर्फ सावधान किया गया है। संस्कृति कर्म के प्रवाह की दो मुख्य दिशाएँ हैं। संस्कृति प्रवाह की एक दिशा अतीत की तरफ जाने के लिए सक्रिय रहती है और यह मोटे तौर सभ्यता प्रदत्त उपादानों का इस्तेमाल भी सभ्यता विकास की उपलब्धियों के चेतना का सक्रिय हिस्सा बनने से रोकती है। संस्कृति प्रवाह की एक दूसरी दिशा भविष्य की तरफ जाने के लिए सक्रिय रहती है और यह मोटे तौर सभ्यता प्रदत्त उपादानों का इस्तेमाल सभ्यता विकास की उपलब्धियों के हमारी चेतना का सक्रिय हिस्सा बनने के नजरिये से हितकारी होती है। साहित्य शिक्षण की चुनौती यह है कि वह साहित्य शिक्षण को संस्कृति प्रवाह की इस दूसरी दिशा में मोड़े और सभ्यता की अनुकूलता में संस्कृति के संघटन में योगदान करे। अकारण नहीं है कि मुक्तिबोध सभ्यता समीक्षा की बात को बहुत ही शिद्दत से उठाते थे, इस पर फिर कभी, और कहीं। यहाँ तो बस यह कि 'जहाँ ज्ञान की सीमा समाप्त होती है वहीं से अंधविश्वास का क्षेत्र प्रारंभ होता है। ज्ञान की सीमा को जितना संकुचित किया जाता है, अंधविश्वास का क्षेत्र उतना ही फैलता जाता है।... स्थापित सत्ता, चाहे उसका स्रोत और स्वरूप कुछ भी क्यों न हो वह ज्ञान से डरती है और किसी-न-किसी प्रकार के अंधविश्वास को जरूर पोसती है। संस्कृति के निमार्ण की प्रक्रिया कोई बहुत अमूर्त्त प्रक्रिया नहीं प्रतीत होती है। अंधविश्वास को बनाने और बढ़ानेवाली प्रक्रिया जिसके लिए सबसे बड़ा औजार जनमन में बसा दी गई ईश्वर एवं तदसंबंधी आधिभौतिक या आध्यात्मिक अवधारणा बनी जिसे धर्म के रूप में जनता के बीच फैलाया गया। दूसरी ओर अंधविश्वास को तोड़नेवाली ज्ञान की भौतिक और मानवीय सामाजिक प्रक्रिया भी जारी रही। इन दोनों ही प्रक्रियाओं के टकराव और द्वंद्व से मानवीय संस्कृति निर्मित हुई है। पर्दादारी और पर्दाफाश की इन दो प्रक्रियाओं के बीच से संस्कृति के संघटन और विकास का रास्ता निकलता है और इनकी तमाम जटिलताएँ इन्हीं दो प्रवृत्तियों के गुत्थमगुत्था से बनी प्रतीत होती हैं।'[9] आचार्य रामचंद्र शुक्ल की शब्दावली का प्रयोग

8कबीर ग्रंथावली - सं13: 1975, पदावली 16, संपादनः श्यामसुंदर दासः नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

9 गुजरात का अंतर्पाठः प्रफुल्ल कोलख्यानः पहली बार, जनसत्ता में प्रकाशित

करें तो साहित्य शिक्षण की चुनौती यह भी है कि वह भाव-प्रसार को ज्ञान-प्रसार में बदले, और इसके लिए साहित्य शिक्षण को स्थापित सत्ताओं के दबाव से बाहर निकलने के साहस के इस्तेमाल के लिए यथासंभव अपनी हिचक को तोड़ना चाहिए। यहाँ एक बात का उल्लेख जरूरी है। मूल रूप से शिक्षण का महत्त्व ज्ञान के अनुकूलन[10] से अर्थात किसी एक निष्कर्ष तक पहुँचने-पहुँचाने से तय होता है। साहित्य शिक्षण इस अनुकूलन को तोड़ने की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है। साहित्य शिक्षण का महत्त्व रस से अंतरित ज्ञान के अनुकूलन को तोड़ने से, अर्थात बहुसंभावी निष्कर्षों तक पहुँचने-पहुँचाने की बहुदिशात्मक संभावनाओं के उद्घाटन से, तय होता है।

हालाँकि, सकारात्मक शिक्षण सिर्फ रोजी रोजगार से ही नहीं जुड़ा रहता है, लेकिन रोजी रोजगार की उपेक्षा भी नहीं कर सकता है। ऊपर साहित्य शिक्षण की जिन चुनौतियों की चर्चा की गई है, उन में साहित्य शिक्षण के लिए प्रवृत्त और दीक्षित युवाओं को होनेवाले लाभ पर चर्चा नहीं हो पाई है। इसकी चर्चा अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्य शिक्षण से सफलता पूर्वक गुजरने के क्या लाभ हैं, या हो सकते हैं! इस पर विचार करने के क्रम में ही अपनाई जानेवाली प्रविधि की भी चर्चा हो सकेगी। तो अब, मुख्य सवाल यह है कि साहित्य शिक्षण के लिए प्रवृत्त और दीक्षित होने के क्या लाभ हैं!

एक बात ध्यान में रखें मनुष्य की सक्रियता का बहुत बड़ा भाग भावुक प्रेरणाओं और स्थितियों से तय होती है। भावुक प्रेरणाओं और स्थितियों के सृजनात्मक, उतापदात्मक नियमन और प्रबंधन जरूरी और कठिन काम होता है। साहित्य शिक्षण से सामाजिक संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence), सामाजिक दक्षता (Social Competence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) बढ़ती है, क्योंकि साहित्य में इसका भरपूर निवेश होता है। भावुक भ्रम (Emotional Illusion) से बाहर निकलने का कौशल (Skill) अर्जित होता है। समाज की कार्य-पद्धति का भाव प्रमेय (Emotional Theorem) साहित्य में दर्ज होता है। इस भाव प्रमेय को समझने के लिए साहित्य के समाजशास्त्र की जरूरत है। हाँ, यह जरूर है कि साहित्य के अपने समाजशास्त्र के बिना व्यापक समाज और साहित्य के बदले हुए सौंदर्यबोध को समझना मुश्किल है, लेकिन साहित्य शिक्षण की आंतरिक प्रविधि बहुत हद तक इस कमी को पूरा सकती है। व्यक्ति और समुदाय को सक्रिय करनेवाली संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) को प्रभावी ढंग से समझने के लिए तथा साहित्य में सन्निविष्ट समाज की कार्य-पद्धति के भाव प्रमेय (Emotional Theorem) को सभ्यता विकास के साथ समायोजित करने की विकसित हो रही प्रविधि को किसी भाषा-समाज के अंतर्वर्त्ती कार्य-समाज एवं ज्ञान-समाज से जोड़ने के लिए आज साहित्य शिक्षण को अपने समाजशास्त्र की दुर्निवार जरूरत है। इक्कीसवीं सदी में भारी संख्या में आत्महत्या कर लेने पर मजबूर होनेवाले किसानों के बारे में सुनकर बार-बार 1936 के होरी की याद क्यों आती है? अकाल और भूख से लड़ते हुए समुदाय और उस समुदाय के साथ रहनेवाले अन्य सहजीवी मनुष्येतर प्राणियों के बारे में सुनकर 1952 में प्रकाशित नागार्जुन की कविता 'अकाल और उसके बाद' की काव्य-पंक्तियाँ मन में क्यों गूँजने लगती हैं?

---

[10] Conditioning अर्थात उपस्थित परिस्थिति में निर्णय के निष्कर्ष और कार्य प्रेरणा के पूर्व निर्धारित अपेक्षाओं के अनुरूप होने की स्थिति

बहरहाल, साहित्य शिक्षण को आत्मसात[11] संवेदनात्मक प्रज्ञा (Emotional Intelligence), सामाजिक दक्षता (Social Competence) और संवेदनात्मक दक्षता (Emotional Competence) बढ़ती है, क्योंकि साहित्य में इसका भरपूर निवेश होता है। यहाँ, दो प्रसंग प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' से।

प्रसंग एकः विवाद का विनोद में अंतरण

होरी रेहननामा लिखकर कोई ग्यारह बजे रात घर आया, तो धनिया ने पूछा -- इतनी रात तक वहाँ क्या करते रहे?

होरी ने जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर उतारते हुए कहा -- करता क्या रहा, इस लौंडे की करनी भरता रहा। अभागा आप तो चिनगारी छोड़कर भागा, आग मुझे बुझानी पड़ रही है। अस्सी रुपए में घर रेहन लिखना पड़ा। करता क्या! अब हुक्का खुल गया। बिरादरी ने अपराध क्षमा कर दिया।

धनिया ने ओठ चबाकर कहा -- न हुक्का खुलता, तो हमारा क्या बिगड़ा जाता था? चार-पाँच महीने नहीं किसी का हुक्का पिया, तो क्या छोटे हो गए? मैं कहती हूँ, तुम इतने भोंदू क्यों हो? मेरे सामने तो बड़े बुद्धिमान बनते हो, बाहर तुम्हारा मुँह क्यों बंद हो जाता है? ले-दे के बाप-दादों की निसानी एक घर बच रहा था, आज तुमने उसका भी वारा-न्यारा कर दिया। इसी तरह कल यह तीन-चार बीघे जमीन है, इसे भी लिख देना और तब गली-गली भीख माँगना। मैं पूछती हूँ, तुम्हारे मुँह में जीभ न थी कि उन पंचो से पूछते तुम कहाँ के बड़े धर्मात्मा हो, जो दूसरों पर डाँड़ लगाते फिरते हो, तुम्हारा तो मुँह देखना भी पाप है।

होरी ने डाँटा -- चुप रह बहुत बढ़-चढ़ न बोल। बिरादरी के चक्कर में अभी पड़ी नहीं है, नहीं मुँह से बात न निकलती।

धनिया उत्तेजित हो गई -- कौन-सा पाप किया है, जिसके लिए बिरादरी से डरें? किसी की चोरी की है, किसी का माल काटा है; मेहरिया रख लेना पाप नहीं है, हाँ, रख के छोड़ देना पाप है। आदमी का बहुत सीधा होना भी बुरा है। उसके सीधेपन का फल यही होता है कि कुत्ते भी मुँह चाटने लगते हैं। आज उधर तुम्हारी वाह-वाह हो रही होगी कि बिरादरी की कैसी मरजाद रख ली। मेरे भाग फूट गए थे कि तुम-जैसे मर्द से पाला पड़ा। कभी सुख की रोटी न मिली।

---

[11] Internalization आत्मसात करना किसी मूल्यबोध के मनोवृत्ति, विश्वास और व्यवहार का हिस्सा बनने की प्रक्रिया है

`मैं तेरे बाप के पाँव पड़ने गया था? वही तुझे मेरे गले बाँध गया।'

`पत्थर पड़ गया था उनकी अक्कल पर और उन्हें क्या कहूँ? न जाने क्या देखकर लट्टू हो गए। ऐसे कोई बड़े सुंदर भी न थे तुम।'

विवाद विनोद के क्षेत्र में आ गया। अस्सी रुपए गये, लाख रुपए का बालक तो मिल गया! उसे तो कोई न छीन लेगा। गोबर घर लौट आए, धनिया अलग झोपड़ी में भी सुखी रहेगी।

होरी ने पूछा -- बच्चा किसको पड़ा है?

'गोदान' पर यत्र-तत्र बहुत बात हुई है, शोध और अध्ययन हुए हैं। 'गोदान' के प्रेम पाठ पर चर्चा शायद ही हुई हो! ऊपर लिये गये प्रसंग को ध्यान में रखते हुए सवाल यह बनता है कि होरी को घर रेहन क्यों रखना पड़ा! गोबर की करनी के कारण! गोबर की जो करनी है, उस पर होरी और धनिया के नजरिया में अंतर है। यह अंतर तब और साफ समझ में आ सकता है जब हम उसे समाज में जेंडर आक्रामकता की बढ़त और तथाकथित ऑनर किलिंग को इसे जोड़कर (कोरिलेट) देखा जाये। यहाँ, सिर्फ संकेत किया जा सकता है। प्रसंगवश आपके ध्यान में होगा होरी का भाई गाँव से भाग जाता है। क्यों भागता है? आप बेहतर जानते हैं। सवाल यह है कि इतनी बड़ी क्षति झेलने के बाद भी होरी की बेचैनी और कार्रवाइयों को फिर से पढ़ने पर भाव प्रसार के ज्ञान प्रसार में बदलने की जो प्रक्रिया विकसित होगी उसमें साहित्य के समाजशास्त्र का स्वरूप झलकेगा।

प्रसंग दोः जिले का नाम बताने की कोई जरूरत नहीं

सेमरी और बेलारी दोनों अवध प्रांत के गाँव हैं। जिले का नाम बताने की कोई जरूरत नहीं। होरी बेलारी में रहता है, रायसाहब अमरपाल सिंह सेमरी में। दोनों गाँवों में केवल पाँच मील का अंतर है। पिछले सत्याग्रह-संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेंबरी छोड़कर जेल चले गए थे। तब से उनके इलाके के असामियों को उन से बड़ी श्रद्धा हो गई थी। यह नहीं कि उनके इलाके के असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या डाँड़ या बेगार की कड़ाई की कुछ कम हो; मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी। रायसाहब की कीर्त्ति पर कोई कलंक न लग सकता था। वह बेचारे भी तो उसी व्यवस्था के गुलाम थे। जाब्ते का काम तो जैसे होता चला आया है, वैसा ही होगा। रायसाहब की सज्जनता उस पर कोई असर नहीं डाल सकती थी, इसलिए आमदनी और अधिकार में जौ भर की

> भी कमी नहीं होने पर भी उनका यश मानो बढ़ गया था। असामियों से वह हँसकर बोल लेते थे। यही क्या कम है? सिंह का काम तो शिकार करना है; अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे मनमाना शिकार मिल जाता। शिकार की खोज में जंगल में न भटकना पड़ता। रायसाहब राष्ट्रवादी होने के पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाए रखते थे। उनकी नजरें ओर डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली आती थीं। साहित्य और संगीत के प्रेमी थे, ड्रामा के शोकीन, अच्छे वक्ता थे, अच्छे लेखक, अच्छे निशानेबाज। उनकी पत्नी को मरे आज दस साल हो चुके थे; मगर दूसरी शादी न की थी। हँस-बोलकर अपने विधुर जीवन को बहलाते रहते थे।

ऊपर धनिया ने जो कहा उसे ध्यान में लायें **--** 'मेहरिया रख लेना पाप नहीं है, हाँ, रख के छोड़ देना पाप है।' और अगर 'पाप' हो भी तो वह पैसा देने से कट जाता है! गोबर के पास पैसा नहीं है, उसे 'चिनगारी' छोड़कर भाग जाना पड़ता है। रायसाहब के पास पैसा है, पैसा अर्थात 'पाप' काटने का औजार! पैसा है और वे अच्छे हैं **--** अच्छे वक्ता, अच्छे लेखक, अच्छे निशानेबाज। वे 'हँस-बोलकर' अपने विधुर जीवन को बहला लेते हैं! हँस-बोलकर अपने विधुर जीवन को बहलाकर मधुर बनानेवाले लोगों की मानसिकता और गोबर के चिनगारी छोड़कर भागने को प्रसंग को जोड़कर (कोरिलेट) कर देखें तो जेंडर आक्रामकता की बढ़त के साथ जेंडर अनुदासन (इनसेलविंग) और तथाकथित ऑनर किलिंग के साथ ही शान-ओ-शौकत (ऑनर फिलिंग) के साथ संवेदनात्मक अपवंचना (इमोशनल डिप्राइविंग) को समझाने में साहित्य शिक्षण सहायक हो सकता है। साहित्य शिक्षण से जुड़े लोग ही बता सकते हैं कि क्या यह प्रासंगिक और संभव है या नहीं। रायसाहब 'अच्छे लेखक थे' और प्रेमचंद अच्छे लेखक हैं या नहीं! यह साहित्य शिक्षण को तय करना है। खैर, यह सब तो बाद में भी हो सकता है लेकिन इस समय यह ध्यान दिलाना जरूरी है कि इस प्रसंग में, 'जिले का नाम बताने की कोई जरूरत नहीं' एक विजातीय वाक्य है। विजातीय वाक्य क्यों है? क्योंकि यह दृढ़ आदेशात्मक (कमांडिंग) और नकारात्मक शैली में है, अन्य सभी वाक्य हल्का तंजिया और रोचक ढंग से विवरणात्मक और अनुप्रेरक हैं। अवध प्रांत को प्रेमचंद रायसाहब और होरी की अस्मिता से जोड़ते हैं, जब कि औपनिवेशिक सत्ता द्वारा निर्मित अस्मिता के नये आधार को नकारते हैं; नई पहचान जिला को नकारते हैं तो समझना होगा कि क्यों! साहित्य शिक्षण में इस बात को जोड़ना होगा कि जिला का गठन कैसे हुआ, कितने प्रकार का जिला होता है आदि। फिलहाल तो यह कि मुख्यतः 1857 के बाद जिलावार प्रशासनिक इकाई के नाम पर राजस्व वसूली इकाई का गठन हुआ, जो ब्रिटिश उपनिवेश का कारगर औजार और मारक हथियार बन गया। तो सवाल यह कि क्या प्रेमचंद ब्रिटिश उपनिवेश के कारगर औजार और मारक हथियार की वैधता से बचने की जरूरत का संकेत कर रहे थे? यहाँ भी संकेत ही संकेत ही किया जा सकता है कि जब भू-राजस्व की वसूली की बात को साहित्य शिक्षण से जोड़ा जा सकेगा तब भूमि-संबंध, भूमि-बंदोबस्त, परमानेंट सेटलमेंट, भूमि-सुधार, भूमि अधिग्रहण सहित ग्रामीण आर्थिकी और उससे पुष्ट होती समाजिकी का अर्थ खुलेगा तथा साहित्य शिक्षण के पश्चात नई समझ विकसित होगी। यह नई कंपोजिट समझ साहित्य

शिक्षण के लिए प्रवृत्त और दीक्षित व्यक्ति की चेतना में आत्मसात होकर व्यक्तित्व को नई आभा की दीप्ति की संभावनाओं से जोड़ सकती है; हाँ कठिन शर्त्त यह कि साहित्य शिक्षण के पश्चात नई समझ विकसित हो। यहाँ सिर्फ इशारा ही किया जा सकता है, और लेख लंबा हो गया है फिर भी एक प्रसंग राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' से देना जरूरी है।

तपोवन और थके हुए बदन

> यह असंभव नहीं है कि अगर अब भी इस क़िले की पुरानी दीवार पर कोई आ बैठे और अपनी आँखें बंद कर ले तो उस पार के गाँव और मैदान और खेत घने जंगलों में बदल जायँ और तपोवन में ऋषियों की कुटियाँ दिखायी देने लगें। और वह देखे कि अयोध्या के दो राजकुमार कँधे से कमान लटकाये तपोवन के पवित्र सन्नाटे की रक्षा कर रहे हैं।
> लेकिन इन दीवारों पर कोई बैठता ही नहीं। क्योंकि जब इस तरह बैठने की उम्र आती है तो गज भर की छातियोंवाले बेरोजगारी के कोल्हू में जोत दिये जाते हैं कि वे अपने सपनों का तेल निकालें और उस जहर को पीकर चुपचाप मर जायँ।
> लगा झूलनी का धक्का
> बलम कलकत्ता चले गये।
> कलकत्ता की चटकलों में इस शहर के सपने सन के ताने-बाने में बुनकर दिसावर भेज दिये जाते हैं और फिर सिर्फ ख़ाली आँखें रह जाती हैं और वीरान दिल रह जाते हैं और थके हुए बदन रह जाते हैं, जो किसी अँधेरी-सी कोठरी में पड़े रहते हैं और पगडंडियों, कच्चे-पक्के तालाबों, दान, जौ और मटर के खेतों को याद करते रहते हैं।

रजा किला बनाकर अपनी रखवाली करता है, निराला की बहुत प्रसिद्ध काव्य पंक्ति है। यह किला क्या है? और पुरानी दीवार! ध्यान रहे यह विभाजन के हंगामे को झेलते हुए बने उपन्यास का अंश है। क़िले की पुरानी दीवार पर किसी के आ बैठने और आँखें बंद कर लेने का क्या अर्थ है? उस पार के गाँव और मैदान और खेत के घने जंगलों में बदल जाने और तपोवन में ऋषियों की कुटियाँ दिखायी देने लगने में क्या संकेत किये गये हैं? पवित्र सन्नाटे का क्या अर्थ है और उसकी रक्षा की जरूरत का आशय क्या है? क्यों कलकत्ता (मुख्यतः औपनिवेशिक शहर) की चटकलों (देशी पूँजी से खड़े मिल) में इस शहर के सपने सन (नकदी फसल, कैश क्रॉप) के ताने-बाने में बुनकर दिसावर भेज दिये जाने का क्या मतलब है! उस पार के गाँव का मतलब क्या भाषा, खासकर हिंदी और उर्दू, ज्ञान और रस, राजनीति और संस्ककृति आदि की भाषाओं के पार[12] से है! जो भी हो, मतलब बहुत गंभीर है और साहित्य शिक्षण को इस मतलब को पाने के लिए अपना मन बनाना पड़ेगा।

[12] Beyond languages

जिस बदलते हुए समय के संदर्भ में हम बात कर रहे हैं, उसमें कंप्यूटर के बिना काम चलना बहुत मुश्किल है। कंप्यूटर में एक पद कॉनटेक्स्ट स्विच का व्यवहार होता है। कॉनटेक्स्ट स्विच, अर्थात कंप्यूटर में पूर्व की किसी बिंदु, अवस्था या सूत्र के संरक्षण की एक प्रक्रिया होती है, जहाँ से काम फिर शुरू होता है। देसज अनुभव बताने की इजाजत हो तो यह बहुत कुत्ते के राह पर आगे बढ़ते हुए राह की पहचान के लिए तरल गंध छोड़ने की तरह का होता है। सभ्यता में भी यह कॉनटेक्स्ट स्विच की पहचान और समाज की संघाती रेखा[13] के बरताव को समझने के लिए साहित्य शिक्षण में बहुत अवकाश है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जब कहा कि ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाय, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा तो यही कहा था कि सभ्यता-समय के साथ संस्कृति-समय का द्वंद्व भढ़ता जायेगा; सभ्यता-समय बहुत तेजी से आगे बढ़ता जायेगा और संस्कृति-समय या तो पीछे की ओर लौटने की कोशिश करेगा या जड़ता में फँसता जायेगा। सभ्यता-समय के साथ चलने और जड़ता में फंसने से बचना-बचाना साहित्य-सृजन की भी चुनौती है और साहित्य-शिक्षण की भी चुनौती है। सृजन और शिक्षण की चुनौती साझी है तो इस चुनौती का मुकाबला भी सृजन और शिक्षण के साझेपन से ही किया जा सकता है।

साहित्य शिक्षण का नया तौर तरीका विकसित हो सकता है, यदि साहित्य के बड़े अध्यापक इस दिशा में गंभीरता से सोचते और पहल करते हैं। व्यक्तिगत रूप से कहूँ तो साहित्य से रिश्ता बनाने के लिए मैं अपने जीवन के प्रारंभ से अब तक छटपटाता रहा हूँ। कितना बना पाया! कहना मुश्किल है! रही बात शिक्षण की तो छात्र जीवन में अपना खर्च निकालने के लिए ट्यूशन पढ़ाने के अलावा मेरे जीवन में ऐसा कोई अवसर ही नहीं आया। फिर भी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् के सहयोग से हिंदी विभाग, विवेकानंद महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) ने बदलते समय में साहित्य शिक्षण की प्रविधियों और चुनौतियों के अंतर्गत गद्य विधाओं की शिक्षण प्रविधियों और चुनौतियों के संदर्भ में मुझे मौका दिया तो इसके लिए मैं जितना भी आभार मानूँ कम है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् हिन्दी विभाग, विवेकानन्द महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) के प्रति आभार

[13] फाल्ट लाइन, भूगर्भ के अध्ययन की शब्दावली है जो चट्टानों के बीच दरार और टकराव की मिलन रेखा को ध्वनित करता है